

गीता की महिमा

मो. क. गांधी

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

गीता की महिमा

गीता के महत्त्व पर
प्रकाश डालने वाले
उद्‍बोधक लेख

मो० क० गांधी

१९७८



सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

•

दूसरी बार : १९७८
मूल्य
रु० २.५० न पैसे

•

मुद्रक
अग्रवाल प्रिंटर्स, दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक में गांधीजी के गीता-विषयक लेखों का संग्रह किया गया है। गांधीजी का परिचय गीता से किस प्रकार हुआ, उनकी रुचि उसमें किस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती गई, उसकी शिक्षाएं कैसे उनके जीवन की अभिन्न अंग बनीं, गीता को कंठस्थ करने से क्या लाभ होता है, गीता की व्यावहारिक उपयोगिता क्या है, गीता के मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं, इन तथा अन्य अनेक बातों को गांधीजी ने इस पुस्तक के लेखों में स्पष्ट किया है।

हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इस पुस्तक को जो भी पढ़ेंगे, उनकी गीता में दिलचस्पी पैदा होगी और उन्हें यह पता चलेगा कि हमारे देश में ही नहीं, सारे संसार में गीता को इतनी लोकप्रियता क्यों प्राप्त हुई है।

पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। उन्हें मालूम होगा कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है और उसकी प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है।

—मंत्री

अनुक्रम

गीता की महिमा

: १ :

गीता-माता

गीता शास्त्रों का दोहन है। मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उप-निषदों का निचोड़ उसके ७०० श्लोकों में आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीता का ज्ञान प्राप्त कर लूं। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर संकट के समय गीता-माता के पास जाना मैं सीख गया हूं। मैंने देखा कि जो कोई इस माता की शरण जाता है, उसे ज्ञानामृत से वह तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो महा गूढ़ ग्रंथ है। स्व० लोकमान्य तिलक ने अनेक ग्रंथों का मनन करके पंडित की दृष्टि से उसका अभ्यास किया और उसके गूढ़ अर्थों को वे प्रकाश में लाये। उसपर एक महाभाष्य की रचना भी की। तिलक महा-राज के लिए यह गूढ़ ग्रंथ था; पर हमारे जैसे साधारण मनुष्य के लिए वह गूढ़ नहीं है। सारी गीता का वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप पहले केवल तीन अध्याय पढ़ लें। गीता का सब सार इन तीन अध्यायों में आ जाता है। बाकी के अध्याय में वही बात अधिक विस्तार से और अनेक दृष्टियों से सिद्ध की गई है। यह भी किसी को कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायों में से कुछ ऐसे श्लोक छांटे जा सकते हैं[1], जिनमें गीता

---

१. गांधीजी ने स्वयं चुने हुए श्लोकों का एक संग्रह 'गीता प्रवेशिका' के नाम से किया था, जां 'सस्ता साहित्य मंडल' से प्रकाशित 'गीता-माता' में छपा है।

का निचोड़ आ जाता है। तीन जगहों पर तो गीता में यह भी आता है कि सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश क्या हो सकता है ? जो मनुष्य गीता में से अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमें से वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनंद में रहता है।

पर इसके लिए बुद्धिवाद नहीं, बल्कि अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिए। अबतक मैंने एक भी ऐसे आदमी को नहीं जाना, जिसने गीता का अव्यभिचारिणी भक्ति से सेवन किया हो और जिसे गीता से आश्वासन न मिला हो। तुम विद्यार्थी लोग कहीं परीक्षा में फेल हो जाते हो तो निराशा के सागर में डूब जाते हो। गीता निराश होनेवालों को पुरुषार्थ सिखाती है, आलस्य और व्यभिचार का त्याग बताती है। एक वस्तु का ध्यान करना, दूसरी चीज बोलना और तीसरे को सुनना इसको व्यभिचार कहते हैं। गीता सिखाती है कि पास हो या फेल, दोनों चीज़ें समान हैं। मनुष्यों को केवल प्रयत्न करने का अधिकार है, फल पर कोई अधिकार नहीं। यह आश्वासन मुझे कोई नहीं दे सकता, वह तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है। सत्याग्रही की हैसियत से मैं कह सकता हूं कि इसमें से नित्य ही मुझे कुछ-न-कुछ नई वस्तु मिलती रहती है। कोई मुझे कहेगा कि यह तुम्हारी मूर्खता है तो मैं उसे कहूंगा कि मैं अपनी इस मूर्खता पर अटल रहूंगा। इसलिए सब विद्यार्थियों से मैं कहूंगा कि सवेरे उठकर तुम इसका अभ्यास करो। तुलसीदास का मैं भक्त हूं; पर तुम लोगों को इस समय मैं तुलसीदास नहीं सुझाता हूँ।

विद्यार्थी की हैसियत से तुम गीता का ही अभ्यास करो, पर द्वेष-भाव से नहीं, भक्ति-भाव से। तुम उसमें भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिए वह उसमें से मिलेगा। अठारहों अध्याय कंठ करना कोई खेल नहीं है, पर करने जैसी चीज़ तो है ही। तुम एक बार उसका आश्रय लोगे तो देखोगे कि दिनों-दिन उसमें तुम्हारा अनुराग वढ़ेगा। फिर तुम कारागृह में हो या जंगल में, आकाश में हो या अंधेरी कोठरी में, गीता का रटन तो निरंतर तुम्हारे हृदय में चलता ही रहेगा और उसमें से तुम्हें आश्वासन मिलेगा। तुमसे यह आधार तो कोई छीन ही नहीं सकता। इसके रटन में जिसका प्राण जायगा, उसके लिए तो वह सर्वस्व ही है; केवल निर्वाण नहीं, बल्कि ब्रह्म-निर्वाण है।

: २ :

गीता से प्रथम परिचय

विलायत में रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियोसाफ़िस्ट मित्रों से मुलाकात हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीता की बात चलाई। उन दिनों ये एडविन आरनॉल्ड-कृत गीता के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए कहा। मैं लज्जित हुआ, क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृत में, न भाषा में ही पढ़ी थी। मुझे उनसे यह बात झेंपते हुए कहनी पड़ी; पर साथ यह भी कहा कि मैं आपके साथ पढ़ने के लिए तैयार हूं। यों तो मेरा संस्कृत-ज्ञान नहीं के बराबर है, फिर भी

मैं इतना समझ सकूंगा कि अनुवाद कहीं गड़बड़ होगा तो वह बता सकूं। इस तरह इन भाइयों के साथ मेरा गीता-वाचन आरंभ हुआ। दूसरे अध्याय के अंतिम श्लोकों में :

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।[1]

इन श्लोकों का मेरे दिल पर गहरा असर हुआ। बस कानों में उनकी ध्वनि दिन-रात गूंजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रंथ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ़ होती गई और अब तो तत्त्व ज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूं। निराशा के समय इस ग्रंथ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। यों इसके लगभग तमाम अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ़ गया हूं; परन्तु एडविन आरनॉल्ड का अनुवाद सबमें श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होंने मूल ग्रंथ के भावों की अच्छी रक्षा की है और तिसपर भी वह अनुवाद जैसा नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्गीता का अच्छा अध्ययन कर लिया है। उसका रोजमर्रा पाठ तो वर्षों बाद शुरू हुआ।

'आत्मकथा,' नवां संस्करण
पृष्ठ ७१

---

१. विषय का चिंतन करने से पहले तो उसके साथ संग पैदा होता है और संग से काम की उत्पत्ति होती है। कामना के पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोध से संमोह, संमोह से स्मृतिभ्रम और स्मृतिभ्रम से बुद्धि का नाश होता है और अंत में पुरुष स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

: ३ :

गीता का अध्ययन

गीता का अध्ययन शुरू किया। एक छोटा-सा 'जिज्ञासु-मंडल' भी बनाया गया और नियमपूर्वक अध्ययन आरंभ हुआ। गीताजी के प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो पहले ही से थी। अब उसका गहराई के साथ रहस्य समझने की आवश्यकता दिखाई दी। मेरे पास एक-दो अनुवाद रखे थे, उनकी सहायता से मूल संस्कृत समझने का प्रयत्न किया और नित्य एक या दो श्लोक कंठ करने का निश्चय किया।

सुबह का दतौन और स्नान का समय मैं गीताजी कंठ करने में लगाता। दतौन में १५ और स्नान में २० मिनट लगते। दतौन अंग्रेजी रिवाज के मुताबिक खड़े-खड़े करता। सामने दीवार पर गीताजी के श्लोक लिखकर चिपका देता और उन्हें देख-देखकर रटता रहता। इस तरह रटे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते। बीच में पिछले श्लोकों को भी दुहरा जाता। इस प्रकार मुझे याद पड़ता है कि १३ अध्याय तक गीता कंठ कर ली थी, पर बाद में काम की झंझटें बढ़ गईं। सत्याग्रह का जन्म हो गया और उस बालक की परिवरिश का भार मुझपर आ पड़ा, जिससे विचार करने का समय भी उसके लालन-पालन में बीता और कह सकते हैं कि अब भी बीत रहा है।

गीता-पाठ का असर मेरे सहाध्यायियों पर तो जो कुछ पड़ा हो, वह वही बता सकते हैं, किन्तु मेरे लिए तो गीता आचार की एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोश हो गई है। अपरिचित अंग्रेजी शब्द के हिज्जे या अर्थ को देखने के

लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोश को खोलता, उसी तरह आचार-संबंधी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियों को गीताजी के द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दों ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूं, कैसे उसका पालन करूं? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर हैं, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं जो कल के साथी हैं, उनमें और उन सज्जनों में, जिन्होंने हम पर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नहीं है? अपरिग्रह का पालन किस तरह मुमकिन है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है? स्त्री-पुरुष आदि यदि परिग्रह नहीं तो फिर क्या है? क्या पुस्तकों से भरी इन अलमारियों में आग लगा दूं? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ करना हुआ। अन्दर से तुरंत उत्तर मिला, "हां, घरबार को खाक किये बिना तीर्थ नहीं किया जा सकता।" इसमें अंग्रेजी कानून के अध्ययन ने मेरी सहायता की। स्नेल-रचित कानून के सिद्धान्तों की चर्चा याद आई। ट्रस्टी शब्द का अर्थ, गीताजी के अध्ययन की बदौलत अच्छी तरह समझ में आया। कानूनशास्त्र के प्रति मन में आदर बढ़ा, उसके अंदर भी मुझे धर्म का तत्त्व दिखाई पड़ा। ट्रस्टी यों करोड़ों की संपत्ति रखते हैं, फिर भी उसकी एक पाई पर उनका अधिकार नहीं होता। इसी तरह मुमुक्ष को अपना आचरण रखना चाहिए, यह पाठ मैंने गीताजी से सीखा। अपरिग्रही होने के लिए, समभाव रखने के लिए, हेतु का और हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। बस, तुरंत रेवाशंकरभाई को लिखा कि बीमे की पालिसी बंद कर दीजिए। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक, नहीं तो खैर। बाल-बच्चों

और गृहिणी की रक्षा वह ईश्वर करेगा, जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्र का था। पिता के समान अपने बड़े भाई को लिखा, "आजतक मैं जो कुछ बचाता रहा, आपके अर्पण करता रहा। अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो कुछ बच रहेगा, वह यहीं के सार्वजनिक कामों में लगेगा।"

आत्मकथा', नवां संस्करण
पृष्ठ २६५

: ४ :

गीता-ध्यान

कल्पना का चित्र कुछ भी खींचा हो और उसका ध्यान किया हो तो इसमें दोष नहीं देखता। लेकिन गीतामाता के ध्यान से संतोष होता हो तो और क्या चाहिए ? गीता का ध्यान दो तरह से हो सकता है: एक तो उसे माता के रूप में माना है। इसलिए सामने माता की तस्वीर की जरूरत रहती हो तो या तो अपनी माँ में ही, यदि वह मर गई हो तो, कामधेनु का आरोपण करके गीता के रूप में मानकर उसका ध्यान करना चाहिए, या कोई भी काल्पनिक चित्र मन में खींच लिया जाय। उसे गो-माता का रूप दिया हो तो भी काम चल सकता है। दूसरी तरह हो सके तो इसे मैं ज्यादा अच्छा समझता हूं। हम हमेशा जो अध्याय बोलते हों, उसमें से या किसी भी अध्याय के किसी भी श्लोक या किसी शब्द का ध्यान धरना ही उसका चिन्तवन करना है। गीता में जितने शब्द हैं, उतने ही उसके आभूषण हैं

और प्रियजनों के आभूषणों का ध्यान करना भी उन्हीं का ध्यान धरने के बराबर है। यही बात गीता की है। लेकिन इसके सिवा किसी को और कोई ढंग मिल जाय तो भले ही वह उस ढंग से ध्यान धरे। जितने दिमाग, उतनी ही विविधता होती है। कोई दो व्यक्ति एक ही तरीके से एक ही चीज का ध्यान नहीं करते। दोनों के वर्णन और कल्पना में कुछ-न-कुछ फर्क तो रहेगा ही।

छठें अध्याय के अनुसार जरा-सी भी की हुई साधना बेकार नहीं जाती, और जहां से रह गई हो, वहां से दूसरे जन्म में आगे चलती है। इसी तरह जिसमें कल्याणमार्ग की तरफ मुड़ने की इच्छा तो जरूर हो, मगर अमल करने की शक्ति न हो, उसे ऐसा मौका जरूर मिलेगा, जिससे दूसरे जन्म में उसकी यह इच्छा दृढ़ हो। इस बारे में भी मेरे मन में कोई शंका नहीं है। मगर इसका यह अर्थ न किया जाय कि तब तो हम इस जन्म में शिथिल रहें, तो भी काम चलेगा। ऐसी इच्छा इच्छा नहीं है, या वह बौद्धिक है, मगर हार्दिक नहीं है। बौद्धिक इच्छा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। वह मरने के बाद नहीं रहती; पर जो इच्छा दिल में पैठ जाती है, उसके पीछे प्रयत्न तो होना ही चाहिए। मगर कई कारणों से और शरीर की कमजोरी से संभव है कि यह इच्छा इस जन्म में पूरी न हो और इस तरह का अनुभव हमें रोज होता है। मगर इस इच्छा को लेकर जीव देह को छोड़ता है और दूसरे जन्म में इस जन्म की उपाधियां कम होकर यह इच्छा फलती है या ज्यादा मजबूत तो होती ही है। इस तरह कल्याणकृत लगातार आगे बढ़ता ही रहता है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने निवृत्तिनाथ के जीते हुए उनका ध्यान धरा हो तो भले ही धरा हो; लेकिन इतना होने पर भी मेरी

पक्की राय है कि वह हमारे नकल करने लायक नहीं है। जिसका ध्यान करना है, वह पूर्णता को पाया हुआ व्यक्ति होना चाहिए। जीवित व्यक्ति के लिए इस तरह का ख्याल करना बिलकुल बेजा और गैरजरूरी है। किन्तु यह हो सकता है कि ज्ञानेश्वर महाराज ने शरीरधारी निवृत्तिनाथ का ध्यान किया हो। मगर हम इस झगड़े में कहां पड़ें ? और जब जीवित मूर्ति का ध्यान करने का सवाल उठता है तब कल्पना की मूर्ति की गुंजायश नहीं रहती और इसका उल्लेख करके जवाब दिया हो तो इस जवाब से बुद्धिभ्रंश होना संभव है।

पहले अध्याय में जो नाम दिये हैं, वे सब नाम, मेरी राय में, व्यक्तिवाचक होने के बजाय गुणवाचक ज्यादा हैं। दैवी और आसुरी वृत्तियों के बीच की लड़ाई का बयान करते हुए कवि ने वृत्तियों को मूर्तिमान बनाया है। इस कल्पना में इस बात से इनकार नहीं किया गया है कि पांडवों और कौरवों के बीच हस्तिनापुर के पास सचमुच युद्ध हुआ होगा। मेरी ऐसी कल्पना है कि उस जमाने का कोई दृष्टान्त लेकर कवि ने इस महान ग्रंथ की रचना की है। इसमें भूल हो सकती है, या ये सब नाम ऐतिहासिक हों तो ऐतिहासिक आरंभ के लिए ये नाम देना बेजा भी नहीं माना जा सकता। विषय-विचार के लिए पहला अध्याय जरूरी है, इसलिए गीता-पाठ के वक्त उसे पढ़ लेना भी जरूरी है।

'महादेवभाईनी डायरी',
पहला भाग, पृष्ठ २२३
१८ जून, १९३२

वह दिन याद आता है जब मि० बेकर मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शन में ईसाई बनाने को ले गये। वे हमेशा मेरे साथ चर्चा करते थे। मैं उन्हें कहता कि आप मुझमें श्रद्धा जाग्रत कीजिए। जो भी अच्छा असर आप मुझपर डालना चाहते हों, वह डालने देने के लिए मैं तैयार हूं। इसलिए उन्होंने कहा कि वेलिंग्टन कन्वेन्शन में चलो। वहां समर्थ लोग आयंगे। आप उनसे मिलेंगे तो आपको विश्वास हुए बिना रहेगा ही नहीं। सारे डिब्बे में गोरे बैठे थे और मैं अकेला ऊपर के बंक पर दबा हुआ बैठा था। वे लोग कहने लगे, "देखिये, हिक्स नदी आई, भव्य प्रदेश है। देखिये, सूर्योदय के दर्शन तो कीजिये!" मगर मैं उतरता ही न था। मैं तो ११वें अध्याय का पाठ कर रहा था। बेकर ने मुझसे पूछा, "क्या पढ़ रहे हैं?" मैंने कहा, "भगवद्गीता।" उन्हें लगा होगा कि कैसा मूर्ख है कि बाइबिल नहीं पढ़ता! मगर क्या करते? उन्हें मुझपर जबरदस्ती तो करनी न थी। कन्वेन्शन में मेरे लिए विशेष प्रार्थना भी हुई। मगर मैं कोरा-का-कोरा ही लौटा।

'महादेवभाईनी डायरी'
पहला भाग, पृष्ठ २२७
१६ जून, १६३२

: ५ :

गीता पर आस्था

...फिर एक 'विशाल बुद्धि' पुरुष—गीता का प्रणेता उत्पन्न हुआ। उसने हिन्दू-समाज को गहरे तत्वज्ञान से भरा

और साथ ही हिन्दू-धर्म का ऐसा दोहन अर्पित किया कि जो मुग्ध जिज्ञासु को सहज ही समझ में आ सकता है। हिन्दू-धर्म का अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक हिन्दू के लिए यह एकमात्र सुलभ ग्रंथ है और यदि अन्य सभी धर्मशास्त्र जलकर भस्म हो जायं तब भी इस अमर ग्रंथ के सात सौ श्लोक यह बताने के लिए पर्याप्त होंगे कि हिन्दू-धर्म क्या है और उसे जीवन में किस प्रकार उतारा जाय। मैं सनातनी होने का दावा करता हूं; क्योंकि चालीस वर्षों से इस ग्रंथ के उपदेशों को जीवन में अक्षरश: उतारने का मैं प्रयत्न करता आया हूं। गीता के मुख्य सिद्धान्त के विपरीत जो कुछ भी हो, उसे मैं हिन्दू-धर्म का विरोधी मानकर अस्वीकार करता हूं। गीता में किसी भी धर्म या धर्म-गुरु के प्रति द्वेष नहीं। मुझे यह कहते बड़ा आनंद होता है कि मैंने गीता के प्रति जितना पूज्य भाव रखा है, उतने ही पूज्य भाव से मैंने बाइबिल, कुरान, जंदअवस्ता और संसार के अन्य धर्म-ग्रंथ पढ़े हैं। इस वाचन ने गीता के प्रति मेरी श्रद्धा को दृढ़ बनाया है। उससे मेरी दृष्टि और उससे मेरा हिन्दू धर्म विशाल हुआ है। जैसे कि जरथुस्त्र, ईसा और मुहम्मद के जीवन-चरित्र को मैंने समझा है, वैसे ही गीता के बहुत से वचनों पर मैंने प्रकाश डाला है। इससे इन सनातनी मित्रों ने मुझे जो ताना दिया है, वह मेरे लिए तो आश्वासन का कारण बन गया है। मैं अपने को हिन्दू कहने में गौरव मानता हूं; क्योंकि मेरे मन में यह शब्द इतना विशाल है कि पृथ्वी के चारों कोनों के पैगंबरों के प्रति यह केवल सहिष्णुता ही नहीं रखता, वरन् उन्हें आत्मसात् कर लेता है। इस जीवन-संहिता में कहीं भी अस्पृश्यता को स्थान हो, ऐसा मैं नहीं देखता। इसके

विपरीत, लौह-चुंबक के समान चित्ताकर्षक वाणी में मेरी बुद्धि को स्पर्श करके और इसके भी आगे मेरे हृदय को पूर्णतया स्पर्श करके मेरे मन में यह आस्था उत्पन्न करती है कि भूतमात्र एक-रूप हैं, वे सभी ईश्वर में से निकले हैं और उसी में विलीन हो जानेवाले हैं। भगवती गीता माता द्वारा उपदिष्ट सनातन धर्म के अनुसार जीवन का साफल्य बाह्य आचार और कर्मकांड में नहीं, वरन् सम्पूर्ण चित्त-शुद्धि में और शरीर, मन और आत्मा-सहित समग्र व्यक्तित्व को परब्रह्म के साथ एकाकार कर देने में है। गीता के इस संदेश को अपने जीवन में ओत-प्रोत करके मैं करोड़ों की मानवमेदिनी के पास गया हूं और उन्होंने मेरी बातें सुनी हैं, सो मेरी राजनीतिज्ञता के कारण अथवा मेरी वाणी की छटा के कारण नहीं, बल्कि मेरा विश्वास है कि मुझे अपना, अपने धर्म का मानकर सुनी हैं। समय के साथ-साथ मेरी यह श्रद्धा अधिकाधिक दृढ़ होती गई है कि मैं सनातन-धर्मी होने का दावा करूं; यह चीज गलत नहीं और यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो वह मुझे इस दावे पर मेरी मृत्यु की मुहर लगा लेने देगा।

'महादेवभाईनी डायरी,'
भाग २, पृष्ठ ४३५
४ नवंबर, १९३२

: ६ :

गीता का अर्थ

एक मित्र इस प्रकार प्रश्न करते हैं :

"गीता का संदेश क्या है ? हिंसा या अहिंसा ? मालूम होता है कि यह झगड़ा हमेशा ही चलता रहेगा। यह बात और है कि हम गीता में किस संदेश को देखना चाहते हैं और उसमें से कौन-सा संदेश निकालना चाहते हैं और यह दूसरी ही बात है कि उसको सीधे ही पढ़ने पर क्या छाप पड़ती है। जिसके दिल में यह बात जम गई है कि अहिंसा-तत्त्व ही जीवन-संदेश है, उसके लिए तो यह प्रश्न गौण है। वह तो यही कहेगा कि गीता में से अहिंसा निकलती हो तो मुझे वह ग्राह्य है। इतने भव्य ग्रंथ में से अहिंसा जैसा भव्य धार्मिक सिद्धान्त ही निकालना चाहिए; किन्तु यदि न निकलता हो तो गीता को भी रहने दीजिए। उसको आदर से पूजेंगे; लेकिन उसे प्रमाण ग्रंथ नहीं मानेंगे।

"प्रथम अध्याय को पढ़ने पर यही प्रतीत होता है कि अहिंसा-वृत्ति से प्रेरित अर्जुन अशस्त्र होकर कौरवों के हाथों मरने को तैयार है। हिंसा से होनेवाले पाप और हानि उसकी निगाह में साफ़ नजर आते हैं। विषाद से वह कांप उठता है और कहता है :

" 'अहो बत् महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् ।' इस पर श्रीकृष्ण उससे कहते हैं—'समझदार होकर भी यह क्या बोलते हो ? कोई किसी को न मारता है, न कोई मरता ही है। आत्मा अमर है और शरीर का नाश तो होगा ही। इसलिए इस धर्म-प्राप्त युद्ध को लड़ लो। जय क्या और पराजय क्या ? केवल अपना कर्तव्य पूरा करो।'

"ग्यारहवें अध्याय में भी उसे विश्वरूप दिखाकर भगवान् श्रीकृष्ण यही कहते हैं :

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकात्समाहर्त्तुमिहो प्रवृत्तः।

× × ×

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा।

"ईश्वर की दृष्टि में हिंसा और अहिंसा दोनों समान ही हैं; लेकिन मनुष्य के लिए ईश्वर का संदेश क्या हो सकता है?"

'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।'

यह क्या? गीता का संदेश यदि अहिंसा हो तो १ और ११ अध्याय सुसम्बद्ध नहीं मालूम होते। वे उसके पोषक तो हैं ही नहीं। ऐसी शंकाओं का समाधान कौन करे?

"काम की भीड़ में से कुछ समय निकालकर आप इसका जवाब दें तो कितना अच्छा हो!"

ऐसे प्रश्न तो हुआ ही करेंगे। जिसने कुछ अध्ययन किया है, उसे उनका यथाशक्ति जवाब भी देना होगा; किन्तु इनका समाधान करने पर भी आखिर मुझे यह तो कहना ही पड़ेगा कि मनुष्य वही करेगा, जो उसका हृदय उसे करने को कहेगा। प्रथम हृदय है और फिर बुद्धि; प्रथम सिद्धांत और फिर प्रमाण; प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क; प्रथम कर्म और फिर बुद्धि, इसीलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है मनुष्य जो कुछ भी करता है या करना चाहता है, उसका समर्थन करने के लिए प्रमाण भी ढूंढ़ निकालता है।

इसलिए मैं समझता हूं कि मेरा गीता का अर्थ सबके अनुकूल न होगा। ऐसी स्थिति में यदि मैं इतना कहूं कि गीता के मेरे अर्थ पर मैं किस तरह पहुंचा और धर्मशास्त्रियों के अर्थ

निकालने में मैंने किन-किन सिद्धान्तों को मान्य रखा है तो यही बस होगा। "परिणाम चाहे कुछ आवे, मुझे तो युद्ध करना चाहिए। जो शत्रु मरने योग्य हैं, वे तो स्वयं ही मरे हुए हैं। मुझे तो उनको मारने में मात्र निमित्त बनना है।"

१८८९ के साल में गीताजी से मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र २० साल की थी। मैं अहिंसाधर्म को बहुत ही थोड़ा समझता था। शत्रु को भी प्रेम से जीतना चाहिए, यह मैं गुजराती कवि शामल भट्ट के इस छप्पय से "पाणी आपे ने वाय भलुं भोजन तो दीजे" सीखा था। इसमें जो सत्य है, वह मेरे हृदय में अच्छी तरह बैठ गया था, किन्तु उस समय मुझे उसमें से जीव-दया की स्फुरणा नहीं हुई थी। इसके पहले मैं देश ही में मांसाहार कर चुका था। मैं मानता था कि सर्पादिका नाश करना धर्म है। मुझे याद आता है कि मैंने खटमल इत्यादि जीव मारे हैं। मुझे तो यह भी याद आता है कि मैंने एक बिच्छू को भी मारा था। आज यह समझा हूं कि ऐसे जहरीले जीवों को भी न मारना चाहिए। उस समय मैं यह मानता था कि हमें अंग्रेजों के साथ लड़ने के लिए तैयारी करनी होगी। 'अंग्रेज राज्य करते हैं, इसमें आश्चर्य हीं क्या है'—इस आशय की एक कविता गुनगुनाया करता था। मेरा मांसाहार इसी तैयारी का कारण था। विलायत जाने के पहले मेरे ऐसे विचार थे। मैं मांसाहार इत्यादि से बच गया, इसका कारण माता को दिये हुए वचनों को मरते दम तक पालन करने की मेरी वृत्ति ही थी। सत्य के प्रति मेरे प्रेम ने बहुत-सी आपत्तियों में से मेरी रक्षा की है।

अब दो अंग्रेजों से प्रसंग पड़ने पर मुझे गीता पढ़नी पड़ी।

'पढ़नी पड़ी' इसलिए कहता हूं, क्योंकि उसे पढ़ने की मुझे कोई
खास इच्छा न थी; लेकिन जब इन दो भाइयों ने मुझे उनके
साथ गीता पढ़ने को कहा तब मैं शर्मिन्दा हुआ। मुझे अपने
धर्मशास्त्रों का कुछ भी ज्ञान नहीं है, इस ख्याल से मुझे बड़ा
दुःख हुआ। मालूम होता है, इस दुःख का कारण अभिमान था।
मेरा संस्कृत का अध्ययन ऐसा तो था ही नहीं कि गीताजी के
सब श्लोकों का अर्थ मैं बिना किसी मदद के ठीक-ठीक समझ
लूं। ये दोनों भाई तो कुछ भी न समझते थे। उन्होंने स
एडविन आरनॉल्ड का गीताजी का उत्तमोत्तम काव्यानुवा
मेरे सामने रख दिया। मैंने तो फौरन ही उस पुस्तक को प
डाला और उस पर मुग्ध हो गया। तब से लेकर आजतक
दूसरे अध्याय के अंतिम १९ श्लोक मेरे हृदय में अंकित हैं
मेरे लिए तो सब धर्म उन्हीं में आ जाता है। उसमें संपूर्ण ज्ञा
है। उसमें कहे हुए सिद्धांत अचल हैं। उसमें बुद्धि का भी संपू
प्रयोग किया गया है; लेकिन यह बुद्धि संस्कारी बुद्धि है। उस
अनुभव ज्ञान है।

इस परिचय के बाद तो मैंने बहुत-से अनुवाद पढ़े, बहु
सी टीकाएं पढ़ीं, बहुत-से तर्क किये और सुने, लेकिन उसे पढ़
पर जो छाप मुझ पर पड़ी थी, वह दूर नहीं हुई। ये श्लोक गीत
जी के अर्थ को समझने की कुंजी हैं। उससे विरोधी अर्थ वा
वचन यदि मिलें तो उन्हें त्याग करने की भी सलाह मैं दूंगा
नम्र और विनयी मनुष्य को त्याग करने की भी जरूरत न
है। वह तो सिर्फ योंही कह दे कि दूसरे श्लोकों का आज इस
साथ मेल नहीं मिलता है तो यह मेरी बुद्धि का ही दोष है
समय बीतने पर इनका और इन उन्नीस श्लोकों में कहे

सिद्धांतों का भी मेल बैठ जायगा। अपने मन से और दूसरों से यह कहकर वह शांत हो जायगा।

शास्त्र का अर्थ करने में संस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। 'शूद्र को वेद का अभ्यास नहीं होता', यह वाक्य सर्वथा गलत नहीं है। शूद्र अर्थात् असंस्कारी, मूर्ख, अज्ञान। वह वेदादि का अभ्यास करके उनका अनर्थ करेगा। बड़ी उम्र के भी सब लोग बीजगणित के कठिन प्रश्न अपने-आप समझने के अधिकारी नहीं हैं। उनको समझने के पहले उन्हें कुछ प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। व्यभिचारी के मुख से 'अहं ब्रह्मास्मि' क्या शोभा देगा ? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा ?

अर्थात् शास्त्र का अर्थ करनेवाला यमादि का पालन करनेवाला होना चाहिए। यमादि का शुष्क पालन जैसा कठिन है, वैसा ही निरर्थक भी है। शास्त्रों ने गुरु का होना आवश्यक माना है; लेकिन इस जमाने में गुरुओं का तो करीब-करीब लोप-सा हो गया है। ज्ञानी लोग इसीलिए भक्ति-प्रधान प्राकृत ग्रंथों का पठन-पाठन करने की शिक्षा देते हैं; किन्तु जिनमें भक्ति नहीं, श्रद्धा नहीं, वे शास्त्र का अर्थ करने के अधिकारी नहीं होते। विद्वान् लोग विद्वत्तापूर्ण अर्थ उसमें से भले ही निकालें; लेकिन वह शास्त्रार्थ नहीं। शास्त्रार्थ तो अनुभवी ही कर सकता है।

परंतु प्राकृत मनुष्यों के लिए भी कुछ सिद्धांत तो हैं ही। शास्त्रों के वे अर्थ, जो सत्य के विरोधी हैं, सही नहीं हो सकते। जिसे सत्य के सत्य होने के बारे में ही शंका है, उसके लिए शास्त्र हैं ही नहीं, अथवा यों कहिए कि उसके लिए सब शास्त्र अशास्त्र

हैं। उसको कोई नहीं पहुंच सकता। जिसे शास्त्र में से अहिंसा प्राप्त नहीं हुई है, उसके लिए भय है, लेकिन यह बात नहीं कि उसका उद्धार न हो। सत्य विध्यात्मक है, अहिंसा निषेधात्मक है। सत्य वस्तु का साक्षी है, अहिंसा वस्तु होने पर भी उसका निषेध करती है। सत्य है, असत्य नहीं है। हिंसा है, अहिंसा नहीं है। फिर भी अहिंसा ही होनी चाहिए। यही परम धर्म है। सत्य स्वयंसिद्ध है। अहिंसा उसका संपूर्ण फल है। सत्य में वह छिपी हुई ही है; किंतु वह सत्य की तरह व्यक्त नहीं है। इसलिए उसको मान्य किये बिना मनुष्य भले ही शास्त्र की शोध करे, उसका सत्य आखिर उसे अहिंसा ही सिखावेगा।

सत्य का अर्थ तपश्चर्या तो है ही। सत्य का साक्षात्कार करनेवाले तपस्वी ने चारों ओर फैली हुई हिंसा में से अहिंसा देवी को संसार के सामने प्रकट करके कहा—हिंसा मिथ्या है, माया है, अहिंसा ही सत्य वस्तु है। अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असंभावित है। ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह भी अहिंसा के अर्थ में हैं। ये अहिंसा को सिद्ध करनेवाले हैं। अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है। सत्यार्थी अपनी शोध के लिए प्रयत्न करते हुए यह सब बड़ी जल्दी समझ लेगा और फिर उसे शास्त्र का अर्थ करने में कोई मुसीबत पेश नहीं आवेगी।

शास्त्र का अर्थ करने में दूसरा नियम यह है कि उसके प्रत्येक अक्षर को न पकड़कर उसकी ध्वनि खोजनी चाहिए, उसका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदासजी की रामायण उत्तम ग्रंथ है; क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसने 'शूद्र गंवार ढोल पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'

लिखा, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचंद्रजी ने सीताजी पर कभी प्रहार नहीं किया। इतना ही नहीं, उन्हें कभी दुःख भी नहीं पहुंचाया। तुलसीदासजी ने केवल प्रचलित वाक्य को लिख दिया। उन्हें इस बात का ख्याल कभी न हुआ होगा कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी अर्धांगना का ताड़न करनेवाले पशु भी कहीं निकल पड़ेंगे। यदि स्वयं तुलसीदासजी ने भी रिवाज के वशवर्त्ती होकर अपनी पत्नी का ताड़न किया हो तो भी क्या ? यह ताड़न अवश्य ही दोष है। फिर भी रामायण पत्नी के ताड़न के लिए नहीं लिखी गई है। रामायण तो पूर्ण-पुरुष का दर्शन कराने के लिए, सती-शिरोमणि सीताजी का परिचय कराने के लिए और भरत की आदर्श भक्ति का चरित्र चित्रित करने के लिए लिखी गई है। उसमें मिलनेवाला दोषयुक्त रिवाजों का समर्थन त्याज्य है। तुलसीदासजी ने भूगोल सिखाने के लिए अपना अमूल्य ग्रंथ नहीं बनाया है, इसलिए उनके ग्रंथ में यदि गलत भूगोल पाया जाय तो उसका त्याग करना अपना धर्म है।

अब गीताजी देखें। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति और उसके साधन, यही गीताजी के विषय हैं। दो सेनाओं के बीच युद्ध का होना निमित्त है। भले ही ऐसा कहें कि कवि स्वयं युद्धादि को निषिद्ध नहीं मानते थे और इसलिए उन्होंने युद्ध के प्रसंग का इस प्रकार उपयोग किया है। महाभारत पढ़ने के बाद तो मेरे ऊपर दूसरी ही छाप पड़ी है। व्यासजी ने इतने सुंदर ग्रंथ की रचना करके युद्ध के मिथ्यात्व का ही वर्णन किया है। कौरव हारे तो उससे क्या हुआ ? और पांडव जीते तो भी उससे क्या हुआ ? विजयी

कितने बचे ? उनका क्या हुआ ? कुंती माता का क्या हाल हुआ ? और आज यादव-कुल कहां है ?

जहां विषय युद्ध-वर्णन और हिंसा का प्रतिपादन नहीं है, वहां उसपर जोर देना बिलकुल अनुचित ही माना जायगा और यदि कुछ श्लोकों का संबंध अहिंसा के साथ बैठाना मुश्किल मालूम होता है तो सारी गीताजी को हिंसा के चौखटे में मढ़ना तो उससे कहीं ज्यादा मुश्किल है।

कवि जब किसी ग्रंथ की रचना करता है तो वह उसके सब अर्थों की कल्पना नहीं कर लेता है। काव्य की यही खूबी है कि वह कवि से भी बढ़ जाता है। जिस सत्य का वह अपनी तन्मयता में उच्चारण करता है, वही सत्य उसके जीवन में अक्सर नहीं पाया जाता। इसलिए बहुतेरे कवियों का जीवन उनके काव्यों के साथ सुसंगत नहीं मालूम होता। दूसरा अध्याय, जिससे विषय का आरंभ होता है और अठारहवां अध्याय, जिसमें उसकी पूर्णाहुति होती है, देखने से यही प्रतीत होगा कि गीताजी का सर्वांश तात्पर्य हिंसा नहीं, वरन् अहिंसा है। मध्य में देखोगे तो भी यही प्रतीत होगा। बिना क्रोध, राग या द्वेष के हिंसा का होना संभव नहीं और गीता तो क्रोधादि को पार करके गुणातीत की स्थिति में पहुंचाने का प्रयत्न करती है। गुणातीत में क्रोध का सर्वथा अभाव होता है। अर्जुन ने कान तक खींच-कर जब-जब धनुष चढ़ाया, उस समय की उसकी लाल-लाल आंखें मैं आज भी देख सकता हूं।

परंतु अर्जुन ने कब अहिंसा के लिए युद्ध छोड़ने की हठ की थी ? उसने तो बहुत से युद्ध किये थे। उसे तो एकाएक मोह हो गया था। वह तो अपने सगे-संबंधियों को नहीं मारना

चाहता था। अर्जुन ने दूसरों को, जिन्हें वह पापी समझता हो, न मारने की बात तो की न थी। श्रीकृष्ण तो अंतर्यामी हैं। वह अर्जुन का यह क्षणिक मोह समझ लेते हैं और इसलिए उससे कहते हैं, "तुम हिंसा तो कर चुके हो। अब इस प्रकार एकाएक समझदार बनने का दंभ करके तुम अहिंसा नहीं सीख सकोगे। इसलिए जिस काम का तुमने आरंभ किया है, उसे अब तुम्हें पूरा ही करना चाहिए।" घंटे में चालीस मील के वेग से जानेवाली रेलगाड़ी में बैठा हुआ व्यक्ति एकाएक प्रवास से विरक्त होकर यदि चलती हुई गाड़ी से ही कूद पड़े तो यही कहा जायगा कि उसने आत्म-हत्या की है। उससे उसने प्रवास या रेलगाड़ी में बैठने के मिथ्यात्व को कुछ नहीं सीखा है। अर्जुन का भी यही हाल था। अहिंसक कृष्ण अर्जुन को दूसरी सलाह दे ही नहीं सकते थे; लेकिन उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि गीताजी में हिंसा ही का प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है जितना कि यह कहना कि शरीर-व्यापार के लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है और इसलिए हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इस हिंसामय शरीर से अशरीरी होने का अर्थात् मोक्ष का ही धर्म सिखाता है।

लेकिन धृतराष्ट्र कौन थे ? दुर्योधन, युधिष्ठिर और अर्जुन कौन थे ? कृष्ण कौन थे ? क्या ये सब ऐतिहासिक पुरुष थे ? और क्या गीताजी में उनके स्थूल व्यवहार का ही वर्णन किया गया है ? अकस्मात् अर्जुन सवाल करता है और कृष्ण सारी गीता पढ़ जाते हैं ! और अर्जुन यह कहकर भी कि उसका मोह नष्ट हो गया है, यही गीता फिर भूल जाता है और कृष्ण से दुबारा अनुगीता कहलवाता है !

मैं तो दुर्योधनादि को आसुरी और अर्जुनादि को दैवी वृत्ति मानता हूं। धर्मक्षेत्र यह शरीर ही है। उसमें द्वंद्व चलता ही रहता है और अनुभवी ऋषि कवि उसका तादृश वर्णन करते हैं। कृष्ण तो अंतर्यामी हैं और हमेशा शुद्ध-चित्त में घड़ी की तरह टिक-टिक करते रहते हैं। यदि चित्त को शुद्धरूपी चाबी नहीं दी गई तो अंतर्यामी यद्यपि वहां रहते तो हैं, तथापि उनका टिक-टिकाना तो अवश्य ही बंद हो जाता है।

कहने का आशय यह नहीं कि इसमें स्थूल युद्ध के लिए अवकाश ही नहीं है। जिसे अहिंसा सूझी ही नहीं है, उसे यह धर्म नहीं सिखाया गया है कि कायर बनना चाहिए। जिसे भय लगता है, जो संग्रह करता है, जो विषय में रत है, वह अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा; लेकिन उसका वह धर्म नहीं है। धर्म तो एक ही है। अहिंसा के मानी है मोक्ष और मोक्ष है सत्यनारायण का साक्षात्कार। इसमें पीठ दिखाने को तो कहीं अवकाश ही नहीं है। इस विचित्र संसार में हिंसा तो होती ही रहेगी। उससे बचने का मार्ग गीता दिखाती है; लेकिन साथ-ही-साथ गीता यह भी कहती है कि कायर होकर भागने से हिंसा से नहीं बच सकोगे। जो भागने का विचार करता है, वह तो मारेगा और मरेगा।

प्रश्नकर्त्ता ने जिन श्लोकों का उल्लेख किया है, उनका अर्थ यदि अब भी उनकी समझ में न आवे तो मैं समझाने में असमर्थ हूं। सर्वशक्तिमान् ईश्वर कर्ता, भर्त्ता और संहर्ता है और वह ऐसा ही होना चाहिए। इस विषय में कोई शंका तो न होगी न ? जो उत्पन्न करता है, वह उसका नाश करने का अधिकार भी रखता है। फिर भी वह किसी को नहीं

मारता; क्योंकि वह उत्पन्न भी नहीं करता। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है, उसने मरने ही के लिए जन्म लिया है। ईश्वर भी इस नियम को नहीं तोड़ सकता। यही उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छंद और स्वेच्छाचारी वन जाय तो फिर हम सब कहां जावेंगे ?

१५ अक्तूबर, १९२५

: ७ :

गीता कंठ करो

गीता को कंठ करने के विषय में मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने किये यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बात को वारंबार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है, क्योंकि एक वार तो मैं तेरहवें अध्याय तक कंठ कर गया था और गीता का मनन तो बरसों से चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छाया के नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया; पर मैं उसे कंठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराई में पैठ सका होता तो, हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता; पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए। यद्यपि मुझे सहज ही इसका सुयोग मिल जाय तो गीता कंठ करने का प्रयत्न आरंभ कर दूं।

यहां गीता का अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता,

अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममें से बहुतों का आधार गीता है, इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम) प्रार्थना या कुरेशी गीता के बदले कुरान-शरीफ़, पूरा या उसका कोई भाग, कंठ कर सकते हैं। जिन्हें संस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हों, वे गुजराती या हिन्दी में कंठ करें। जिन्हें गीता पर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्म-ग्रंथ पर हो, वे उसे कंठ करें।

और कंठ करने का अर्थ भी समझ लीजिए। जिस चीज को हम कंठ करें, उसके आदेशानुसार आचरण करने का हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धान्तों का घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हों।

इसका फल है। हमारे पास ग्रंथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमें भूल जाय, हमारी आँख चली जाय, हम वाक्शक्ति से रहित हो जायं, पर समझ बनी हो—ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं—उस समय अगर अपना प्रिय आधार-रूप ग्रंथ कंठ हो तो वह हमारे लिए भारी शांति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, संकट का साथी होगा।

दुनिया का अनुभव भी यही है। हमारे पुरखा—हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, पारसी—कुछ विशेष पाठ कंठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सबके अमूल्य अनुभव को हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशों में हमारी श्रद्धा की परीक्षा है।

आश्रमवासियों से,
३१ जुलाई १९३२

: ८ :

नित्य व्यवहार में गीता[1]

कुछ युवकों ने यहां आते ही मुझे अनेक प्रश्न दिये। उनका जवाव ही मेरा आज का भाषण होगा।

प्रश्न—हिंदुस्तान की वर्तमान परिस्थिति में क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि बतौर हिंदू के आपको श्रद्धानंद स्मारक कोष पर और अधिक जोर देना चाहिए ? अगर आपको ऐसा मालूम होता हो तो फिर यह कोष इकट्ठा करने में आप क्यों हाथ नहीं बंटाते ?

उत्तर—मैं तो एक अपूर्ण मनुष्य हूं। संपूर्ण सर्वशक्तिमान् तो एक ईश्वर है। मैं अर्थशास्त्र जानता हूं। मेरे पास जो समय और शक्ति है, वह सब मैंने देश को अर्पण कर दी है। मुझे यह अभिमान नहीं कि सारा काम मैं ही करूं। जिस काम में पंडित मालवीयजी और लालाजी के समान अनुभवी नेता पड़े हुए हों, उसमें मुझे और अधिक क्या करना था ? जब कलकत्ते में श्रद्धा-नंद-स्मारक के लिए ५० हजार रुपया इकट्ठा किया गया, उस समय मालवीयजी की आज्ञा से मैं वहां उपस्थित था। इसके बाद और कुछ अधिक की आशा मालवीयजी ने मुझसे रक्खी नहीं। मेरे कार्यक्षेत्र की मर्यादा बंधी हुई है। भगवान् श्रीकृष्ण के, गीता के उपदेशानुसार चलने का प्रयत्न करनेवाला मैं एक अल्प मनुष्य हूं और मैं यह समझता हूं कि मेरा अपना धर्म

---

१. नासिक में गांधीजी का भाषण

थोड़े-से-थोड़े में भी क्या है :

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।

दूसरा धर्म चाहे जितना अच्छा लगता हो, पर मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही भला है, दूसरा भयावह है।

प्रश्न—आज आप जो चंदा इकट्ठा कर रहे हैं, क्या वह केवल खादी के लिए ही है ? अगर यह ठीक हो तो आप उसका किस प्रकार उपयोग करेंगे ?

उत्तर—हां, यह धन केवल खादी के लिए ही है; क्योंकि यह अखिल भारत देशबंधु-स्मारक कोष के लिए इकट्ठा किया जा रहा है। इस कोष के साथ देशबंधु का नाम केवल इसीलिए लगाया गया है कि देहांत के थोड़े ही दिनों पहले उन्होंने खादी की योजना तैयार की थी और खादी-कार्य उनको प्रिय था। खादी के लिए चंदा उगाहकर उसकी व्यवस्था करने के लिए ही अखिल भारत चर्खा-संघ की योजना की गई है। इस कोष की पाई-पाई का हिसाब रक्खा जाता है और देखने का किसी भी मनुष्य को अधिकार है। इस संघ का एक कार्यवाहक मंडल है, हिसाब जांचनेवाले हैं, निरीक्षक हैं। इस संघ ने अभी देश के सामने खादी-सेवक-संघ की योजना पेश की है। आप कहेंगे कि जान लिया आपका मंडल। दीजिएगा तीस रुपल्ली। उससे भला होगा क्या ? हां, हमारा मंडल तो भिखारी-मंडल है, क्योंकि बहुत से गरीब भिखारियों से पैसा लेकर यह स्थापित हुआ है। यह कुछ इंडियन सिविल सर्विस नहीं है कि हमें हजारों रुपया वेतनों में देने पड़ें। इंडियन सिविल सर्विस तो लोगों के करों पर अवलंबित है। वह तो लोगों पर राज्य करने के लिए है और

हमारा मंडल तो लोगों की सेवा के लिए है।

प्रश्न—आप मुसलमानों के लिए पक्षपात क्यों करते हैं? कितने मुसलमान नेता आप पर व्यक्तिगत आक्षेप करते हैं। उनका आप जवाब भी नहीं देते। ऐसा क्यों?

उत्तर—परम धर्म का शुद्ध पक्ष लेने में मैं अपने धर्म की रक्षा ही करता हूं। मैं हिंदू धर्म का नाश नहीं चाहता, मैं नाश कर नहीं सकता; क्योंकि मैं हिंदू महासागर की एक बूंद भर हूं। मुसलमान मुझे काफिर कहें तो उससे क्या हुआ? उसका जवाब क्या देना है! मेरा भानजा मेरे साथ ही रहता था। जब दूसरों को लगा कि मैं उसका पक्षपात करता हूं, उस समय मैंने और उसने भी समझा कि मैं उसके साथ न्याय ही करता था। मुसलमान जब मुझपर आक्षेप करते हैं तो इससे शायद यह मालूम होता है कि मैं उन्हें पूरा न्याय न देता होऊंगा। मुझे जवाब देने की आवश्यकता किसलिए हो? मेरे तो चौबीसों घंटे श्रीकृष्ण भगवान् को समर्पित हैं। वही मेरी रक्षा करते हैं और दासानुदास श्रीकृष्ण भगवान् से मैं सदा प्रार्थना करता हूं कि 'हे कृष्ण, मेरी ओर से जो जवाब देना हो, वह तू ही जाकर दे आ।'

प्रश्न—आपने खिलाफत की लड़ाई जी-जान से लड़ी। उसी प्रकार आज हिंदू-संगठन के लिए क्यों नहीं जुट जाते?

उत्तर—खिलाफत के लिए प्राण अर्पण करने की मेरी प्रतिज्ञा थी। परधर्मी के लिए जो कुछ भी हो सका, मैंने किया। मैं मानता था और अब भी मानता हूं कि मेरी इस सेवा से गोरक्षा होगी। आप पूछेंगे कि गोरक्षा हुई? गोरक्षण नहीं हुआ, इससे पर मुझे क्या! मैं तो प्रयत्न का अधिकारी था। फल के अधिकारी तो

श्रीकृष्ण भगवान् हैं। भगवान् ने कहा कि मुहम्मद अली से मिल, शौकत अली से मिल, उनके साथ काम कर ! मैंने वही किया। उन्हें जितनी मदद दी जा सकी, दी। इस काम के लिए मुझे जरा भी पछतावा नहीं है। फिर ऐसा प्रसंग आवे तो मैं यही करूंगा। गीता-भागवत आदि धर्म-ग्रंथ मुझे यही सिखलाते हैं। लोग मेरी निन्दा करें, मेरा अपमान करें, इसके उत्तर में मैं भी उनकी निन्दा और अपमान करनेवाला नहीं। मैं तो वही करूंगा, जो करने का तुलसीदासजी ने उपदेश दिया है, यानी तपश्चर्या। मेरी प्रकृति ही ऐसी वनी है। मुझसे दूसरा क्या होगा ? गीता-जी ने कहा है न कि सब जीव अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, निग्रह क्या करेगा ? इसलिए मुझे तो तपश्चर्या करनी रही। जब मुसलमानों के दिल में खुदा बसेंगे और जब एक दिन ऐसा आवेगा कि हिंदुओं के समान वे भी गोरक्षा करेंगे, मैं भविष्यवाणी करता हूं कि तब आप कहेंगे कि यह गोरक्षा पुराने जमाने के किसी गांधी नाम के पागल की आभारी है।

मैं नहीं मानता कि आज के जैसी तबलीग या शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करने की आज्ञा इस्लाम या हिंदूधर्म या ईसाईधर्म में है। तब मैं शुद्धि में किस प्रकार हाथ बंटा सकता हूं ? तुलसीदास और गीता तो मुझे सिखलाते हैं कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्म पर हमला हो तो तुम आत्मशुद्धि कर लेना। और जो पिंड में है, वह ब्रह्मांड में। आत्मशुद्धि-तपश्चर्या करने का मेरा प्रयत्न चौबीसों घंटों चल रहा है। पार्वती के नसीब में अशुभ लक्षणोंवाला पति था। ऐसे लक्षण होने पर भी शुभंकर तो शिवजी ही थे। पार्वती ने उन्हें तपोबल

से पाया। संकट के समय में ऐसा ही तप हिंदूधर्म सिखलाता है। इस धर्म ज्ञानका साक्षी हिमालय है, वही हिमालय जिसके ऊपर हिंदूधर्म की रक्षा के लिए लाखों ऋषि-मुनियों ने अपने शरीर गला डाले हैं। वेद कुछ कागज पर लिखे अक्षर नहीं हैं। वेद तो अंतर्यामी हैं और अंतर्यामी ने मुझे वतलाया है कि यम-नियमादि का पालन कर और कृष्ण का नाम ले। मैं विनय के साथ, परंतु सत्यता से कहता हूं कि हिंदूधर्म की सेवा, हिंदूधर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं। हां, उसे करने की मेरी रीति भले ही निराली हो।

प्रश्न—आज जो पैसा आपको मिलता है, उसे देनेवाले अधिकांश में विलायती कपड़ों के ही व्यापारी हैं और आपको वे जो पैसा देते हैं, वह आपके प्रेम के कारण देते हैं, खादी के प्रेम के कारण नहीं। क्या आप यह जानते हैं ?

उत्तर—प्रेम से मुझे एक पैसा भी नहीं चाहिए। मैं चाहता हूं कि मेरे काम को समझकर लोग मुझे पैसा दें। प्रेम से आप मुझे दूसरी वस्तु दे सकते हैं, प्रेम से आप मुझे अपने विलायती कपड़े दे सकते हैं, पर पैसा नहीं चाहिए। सच्ची बात तो यह है कि व्यापारी लोग मुझे पैसा देते हैं तो यह समझकर कि मेरा व्यापार जमे तो उससे उनकी या देश की हानि नहीं है। वे जानते हैं कि अंत में उन्हें खादी का ही व्यापार करना पड़ेगा। वे इसे खूब समझते हैं; परंतु उनमें आज निश्चय-बल नहीं है। यह बल उन्हें मिले, इसके लिए वे मुझे ईश्वर से प्रार्थना करने को कहते हैं। इस बीच में वे धन देकर इस प्रवृत्ति का पोषण करते हैं। वे मुझे फुसलाने को धन नहीं देते।

प्रश्न—केवल खादी का ही काम करके आप दूसरे ऐसे ही

महत्त्वपूर्ण या इससे भी अधिक महत्त्व के राजनैतिक कामों की ओर से लापरवाह क्यों हैं ?

उत्तर—मैं कह चुका हूं कि मेरा कार्यक्षेत्र मर्यादित है। दुर्योधन ने भी अपने योद्धाओं की मर्यादा का वर्णन किया था। 'यथाभागमवस्थिताः', सभी को अपने-अपने स्थान पर रहने को और अपने स्थान पर रहकर भीष्म की रक्षा करने को कहा था। गीता का वर्णाश्रम धर्म यही कहता है। वह सबको अपनी-अपनी मर्यादा समझने को कहता है। हिंदुस्तान को अगर मुझसे काम लेना हो तो उसे मेरी मर्यादा समझनी होगी। यह भले ही संभव हो कि मैं दूसरे काम भले प्रकार कर सकूं, पर उन्हें दूसरे लोग करते हैं। खादी का काम, जिसे मैं परम कर्तव्य मानता हूं, यही विश्वास होने के कारण कर रहा हूं कि उसे मेरे जैसा कोई नहीं करेगा। मुझे सत्याग्रह पसंद है, मुझे वह करना है, परंतु उसके लिए अनुकूल वातावरण कहां है ? खादी से वह मुझे पैदा करना है। सत्याग्रह तो मेरी प्राणवायु के समान है, परन्तु उसे खादी के बिना अशक्य मानता हूं।

प्रश्न—जरा यह तो बतलाइयेगा कि इस दौरे में आपको मुसलमानों से कितनी प्रत्यक्ष सहायता मिली है ?

उत्तर—यह बात सच्ची है कि आज मुसलमान खादी के काम में मेरी नहीं के बराबर ही मदद कर रहे हैं; पर इससे क्या हुआ ? मैं अपनी स्त्री या भाई के साथ कुछ व्यापार नहीं करता। घर में उनके साथ मैं यह सौदा करता ही नहीं कि तुम यह करो तो मैं वह करूं। उसी प्रकार मुसलमान भाइयों के साथ या पंडितजी या केलकर के साथ अदला-बदली का सौदा करना नहीं चाहता। मुसलमान से हम किसलिए डरें ? परमेश्वर

से क्यों न डरें ? मनुष्य से डरना न चाहिए, मनुष्य से धोखा खाने का भय ही नहीं रखना चाहिए। ईश्वर के ऊपर विश्वास रखकर, कि लोग धोखा देंगे तो भी ईश्वर देख लेगा, स्वधर्म करना चाहिए।

३ मार्च, १९२१

: ९ :

भगवद्गीता अथवा अनासक्तियोग

गीता पढ़ते, विचारते और उसका अनुसरण करते हुए अब मुझे चालीस साल से ज्यादा हो चुके हैं। मित्रों ने यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं जनता को बताऊं कि मैंने गीता को किस रूप में समझा है। फलतः मैंने अनुवाद शुरू किया।[1] विद्वान की दृष्टि से देखने बैठूं तो अनुवाद करने की मेरी अपनी योग्यता कुछ भी नहीं ठहरती। हां, आचरण करनेवाले की दृष्टि से ठीक-ठीक मानी जा सकती है। यह अनुवाद अब छपा है। बहुतेरी गीताओं के साथ संस्कृत भी होती है। इसमें जान-बूझकर संस्कृत नहीं रखी। संस्कृत सब जानें, समझें तो मुझे अच्छा लगे; लेकिन सब संस्कृत कभी जानेंगे नहीं और संस्कृत के तो अनेक सस्ते संस्करण मिल सकते हैं। इसलिए संस्कृत छोड़कर आकार और कीमत बचाने का निश्चय किया। अतएव १८ सफों की प्रस्तावना और १९१ सफों के अनुवादवाला जेबी संस्करण छपवाया है। इसकी कीमत दो आना रखी है। मेरा लोभ तो यह

१. जो 'अनासक्तियोग' नाम से छपा है।

हैं कि हरएक हिन्दी भाषा-भाषी इस गीता को पढ़े, विचारे और वैसा आचरण करे। इसके विचार का सरल उपाय यह है कि संस्कृत का ख्याल किये बिना ही इसके अर्थ को समझने का प्रयत्न किया जाय और फिर तदनुसार आचरण किया जाय। मसलन् जो यह कहते हैं कि गीता तो अपने-पराये का भेद रखे बिना दुष्टों का संहार करने की शिक्षा देती है, उन्हें अपने दुष्ट माता-पिता या अन्य प्रियजनों का संहार शुरू कर देना चाहिए पर वे वैसा तो कर नहीं सकते। तो फिर जहां संहार का जिक्र आता है, वहां उसका कोई दूसरा अर्थ होना संभव है, यह बात पाठकों को सहज ही सूझेगी। अपने-पराये के बीच भेद न रखने की बात तो गीता के पन्ने-पन्ने में आती है। पर यह कैसे हो सकता है? यों सोचते-सोचते हम इस निश्चय पर पहुंचेंगे कि अनासक्तिपूर्वक सब काम करना ही गीता की प्रधान ध्वनि है; क्योंकि पहले ही अध्याय में अर्जुन के सामने अपने-पराये का झगड़ा खड़ा होता है। गीता के प्रत्येक अध्याय में यह बताया गया है कि ऐसा भेद मिथ्या और हानिकारक है। गीता को मैंने 'अनासक्तियोग' का नाम दिया है। यह क्या है, कैसे सिद्ध हो सकता है, अनासक्ति के लक्षण क्या हैं, आदि तमाम बातों का जवाब इस पुस्तक में है। गीता का अनुसरण करते हुए मैं इस युद्ध को प्रारंभ किये बिना न रह सका। एक मित्र के शब्दों में मेरे मन यह युद्ध धर्मयुद्ध है। और ठीक इस आखिरी फैसले के मौके पर इस पुस्तक का प्रकाशित होना मेरे लिए शुभ शकुन है।

२२ मई, १९३०

: १० :

गीता-जयन्ती

पूना से 'केसरी' वाले श्री जी. वी. केतकर लिखते हैं :

"इस वर्ष गीता-जयंती शुक्रवार २२ दिसंबर को पड़ती है। जो प्रार्थना मैं कई साल से आपसे करता आया हूं, वही इस बार भी दुहराता हूं कि आप 'हरिजन' में गीता और गीता-जयंती पर लिखें। एक बात और भी पिछले वर्ष कही थी, वह फिर से कहता हूं। गीता पर आपने अपने व्याख्यानों में एक जगह कहा है कि जिन्हें ७०० श्लोकों की पूरी गीता का पारायण करने का अवकाश नहीं, उनके लिए दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लेना काफ़ी है। आपने यह भी कहा है कि इन दो अध्यायों का भी सार किया जा सकता है। संभव हो तो आप समझाइए कि आप दूसरे और तीसरे अध्याय को क्यों आधारभूत मानते हैं? मैंने भी दूसरे और तीसरे अध्याय के श्लोक गीता-बीज के रूप में प्रकाशित करके यही विचार जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया है। अवश्य ही आपके इस विषय पर लिखने का प्रभाव अधिक पड़ेगा।"

अबतक मैंने श्री केतकर की बात नहीं मानी थी। मैं नहीं जानता कि जिस उद्देश्य से ये जयंतियां मनाई जाती हैं, वह इस तरह पूरा होता है। आध्यात्मिक विषयों में विज्ञापन के साधारण साधनों का स्थान नहीं होता। आध्यात्मिक वस्तुओं का उत्तम विज्ञापन तो उनके अनुरूप कर्म ही होता है। मेरा विश्वास है कि सभी आध्यात्मिक ग्रंथों का प्रभाव दो बातें होने से पड़ता है। एक तो यह कि उनमें लेखकों के अनुभवों का

सच्चा इतिहास हो और दूसरे उनके भक्तों का जीवन यथा-संभव उनके उपदेशकों के अनुसार रहा हो। इस प्रकार ग्रंथ-कार अपने ग्रंथों में प्राण-संचार करते हैं और अनुयायी उनके अनुसार आचरण करके उनका पोषण करते हैं। मेरी सम्मति में करोड़ों पर गीता, तुलसीकृत रामायण आदि पुस्तकों के प्रभाव का यही रहस्य है। श्री केलकर के आग्रह को मानने में मैं यह आशा रखता हूं कि आगामी जयंती-उत्सव में भाग लेनेवाले उचित भावना से प्रेरित होंगे और गीता के पवित्र संदेश के अनुसार अपना जीवन बनाने का दृढ़ निश्चय करेंगे। मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह संदेश आसक्ति छोड़कर स्वधर्मपालन करना ही है। मेरा यह मत रहा है कि गीता का मुख्य विषय दूसरे अध्याय में है और उसके अनुसार आचरण करने की विधि तीसरे अध्याय में बताई गई है। ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि दूसरे अध्यायों की महिमा कम है। वास्तव में एक अध्याय का अपना महत्त्व अलग ही है। विनोबा ने गीता को 'गीताई' अर्थात् 'गीता-माता' कहकर पुकारा है। उन्होंने उसका बहुत ही सरल और ओजस्वी मराठी में पद्यानुवाद किया है। उसका छंद भी वही रखा है, जो मूल संस्कृत में है। हजारों के लिए गीता ही सच्ची माता है; क्योंकि वह कठिनाइयों में सान्त्वना-रूपी पौष्टिक दूध देती है। मैंने उसे अपना आध्यात्मिक कोश कहा है; क्योंकि दुःख में मैं उससे कभी निराश नहीं हुआ हूं। इसके अतिरिक्त, यह ऐसी पुस्तक है जिसमें साम्प्रदायिकता और धार्मिक अधिकारवाद का नाम भी नहीं है। यह मनुष्य-मात्र को प्रेरणा देती है। मैं गीता को क्लिष्ट पुस्तक नहीं मानता। निःसन्देह पंडितों के तो जो चीज

भी हाथ पड़ जाय, उसी में वे गहनता देख लेते हैं; परन्तु मेरी सम्मति में साधारण बुद्धि के मनुष्य को भी गीता के सरल संदेश को समझ लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसकी संस्कृत तो अत्यंत सरल है। मैंने गीता के कई अंग्रेजी अनुवाद पढ़े हैं, परन्तु एडविन आरनॉल्ड के छन्दानुवाद की तुलना का एक भी नहीं है। इसका नाम भी उन्होंने 'स्वर्गीय गीत' बहुत सुन्दर और उपयुक्त रखा है।

११ दिसंबर, १९३९

: ११ :

गीता और रामायण

बहुतेरे नौजवान कोशिश करते हुए भी पाप से बच नहीं पाते, जिससे वे हिम्मत खो बैठते हैं और फिर दिन-दिन पाप की गहराई में उतरते जाते हैं। बहुतेरे तो बाद में पाप ही को पुण्य भी मानने लगते हैं। ऐसों को मैं बहुत बार सलाह देता हूं कि वे गीताजी और रामायण का बार-बार अध्ययन और मनन करें; लेकिन वे इस बात में दिलचस्पी नहीं लेते। इसी तरह के नौजवानों की दिलजमई के लिए, उन्हें धीरज बंधाने की गरज से, एक नौजवान के पत्र का कुछ हिस्सा, जो इस विषय से संबंध रखता है, नीचे देता हूं :

"मन साधारणतः स्वस्थ है; किंतु जब कुछ दिनों तक मन बिलकुल स्वस्थ रह चुकता है और खुद इस बात का खयाल हो आता हैं तो फिर से पछाड़ खानी ही पड़ती है। विकार इतने जबर्दस्त बन जाते हैं कि उनका विरोध करने में बुद्धिमानी नहीं

मालूम पड़ती; लेकिन ऐसे समय प्रार्थना, गीता-पाठ और तुलसी-रामायण से बड़ी मदद मिलती है। रामायण को एक बार पढ़ चुका हूं, दुबारा सती की कथा तक आ पहुंचा हूं। एक समय था, जब रामायण का नाम सुनते ही जी घबराता था, लेकिन आज तो उसके पन्ने-पन्ने में रस पा रहा हूं। एक ही पृष्ठ को पांच-पांच बार पढ़ता हूं, फिर भी दिल ऊबता नहीं। काग-भुशुण्डजी की जिस कथा के कारण मेरे दिल में तुलसी-रामायण के प्रति घृणा पैदा हो गई थी और वह बुरी लगती थी, वही आज सबसे अच्छी मालूम होती है। उसमें मैं गीता के ११वें अध्याय से भी ज्यादा काव्य देख रहा हूं। दो-चार साल पहले आधे दिल से स्वच्छता पाने की कोशिश करने पर भी उसे न पाकर जो निराशा पैदा होती थी, आज उस निराशा का पता भी नहीं है; उलटे मन में विचार आता है कि जो विकास अनंत काल बाद होनेवाला है, उसे आज ही पा लेने का हठ करना मूर्खता है ! सारे दिन में कातते समय और रामायण का अभ्यास करते समय आराम मिलता है।"

इस पत्र के लेखक में जितनी निराशा और जितना अविश्वास था, शायद ही किसी दूसरे नौजवान में उतनी निराशा और उतना अविश्वास हो। दोनों ने उसके शरीर में घर कर लिया था; लेकिन आज उसमें जिस श्रद्धा का उदय हुआ है, उससे सब नवयुवकों में आशा का संचार होना चाहिए। जो लोग अपनी इंद्रियों को जीत सके हैं, उनके अनुभव पर भरोसा करके लगन के साथ रामायण आदि का अभ्यास करनेवाले का दिल पिघले बिना रह ही नहीं सकता। मामूली विषयों के अभ्यास के लिए भी जब हमें अक्सर बरसों तक मेहनत करनी पड़ती है, कई

तरकीबों से काम लेना पड़ता है, तो फिर जिस विषय में सारी ज़िंदगी की और उसके बाद की शान्ति का भी प्रश्न छिपा हुआ है, उस विषय के अभ्यास के लिए हममें कितनी लगन होनी चाहिए ? इसपर भी जो लोग थोड़े-से-थोड़ा समय और ध्यान देकर रामायण तथा गीता में से रसपान करने की आशा रखते हैं, उनके लिए क्या कहा जाय ?

ऊपर के पत्र में लिखा है कि पत्र-लेखक को जैसे ही अपने तन्दुरुस्त होने का खयाल आता है, विकार फिर से चढ़ दौड़ते हैं। जो बात शरीर के लिए है, वही मन के लिए भी है। जिसका शरीर बिलकुल चंगा है, उसे अपने अच्छेपन का खयाल कभी आता ही नहीं, न उसकी कोई जरूरत ही है, क्योंकि तंदुरुस्ती तो शरीर का स्वभाव है। यही बात मन को भी लागू होती है। जिस दिन मन की तंदुरुस्ती का खयाल आवे, समझ लें कि विकार पास आकर झांक रहे हैं। अतः मन को हमेशा स्वस्थ बनाये रखने का एकमात्र उपाय उसे हमेशा अच्छे विचारों में लगाये रखना ही है। इसी कारण रामनाम आदि के जप की बात की शोध हुई और वे गाये गए। जिसके हृदय में हर घड़ी राम का निवास हो, उसपर विकारों का हमला हो ही नहीं सकता। सच तो यह है कि जो शुद्ध बुद्धि से रामनाम का जप करता है, समय पाकर रामनाम उसके हृदय में घर कर लेता है। इस तरह हृदय-प्रवेश होने के बाद रामनाम उस मनुष्य के लिए एक अभेद्य किला बन जाता है। बुराई, बुराई का खयाल करते रहने से नहीं मिटती। हां, अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है। लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नीयत से उलटी तरकीबें काम में लाते हैं।

'यह कैसे आई, कहां से आई ?—वगैरा विचार करने से बुराई का ध्यान बढ़ता जाता है। बुराई को मेटने का यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराई से असहयोग करना है। जब बुराई हम पर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जाना' कहने की कोई जरूरत नहीं। हमें तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नाम की कोई चीज है ही नहीं और हमेशा स्वच्छता का, अच्छाई का, विचार करते रहना चाहिए। 'भाग जा' कहने में डर का भाव है। उसका विचार तक न करने में निडरता है। हमें सदा यह विश्वास बढ़ाते रहना चाहिए कि बुराई मुझे छू तक नहीं सकती। अनुभव द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है।

१८ अप्रैल, १९२९

: १२ :

राष्ट्रीय शालाओं में गीता

एक संवाददाता पूछते हैं कि क्या राष्ट्रीय शालाओं में हिंदू और अहिंदू सब बालकों को गीता अनिवार्य रूप में सिखाई जा सकती है ? दो साल पहले जब मैं मैसूर में सफर कर रहा था, मुझे यह दुःख के साथ कहना पड़ा था कि एक हाईस्कूल के हिंदू बालक गीता से परिचित न थे। इस तरह गीता के प्रति मेरा पक्षपात स्पष्ट है। मैं तो चाहता हूं कि गीता न केवल राष्ट्रीय शालाओं में ही, बल्कि प्रत्येक शिक्षा-संस्था में पढ़ाई जाय। एक हिंदू बालक या बालिका के लिए गीता का न जानना शर्म की बात होनी चाहिए। मगर अनिवार्यता के बारे में मेरा आग्रह

कम हो जाता है, खासकर राष्ट्रीय शालाओं के संबंध में। यह सच है कि गीता विश्व-धर्म की एक पुस्तक है, फिर भी यह एक दावा है, जो किसी पर लादा नहीं जा सकता। संभव है, कोई ईसाई, मुसलमान या पारसी इस दावे का विरोध करे और बाइबिल, कुरान या अवेस्ता के बारे में ऐसा ही दावा पेश करे। मुझे भय है कि हिंदू कहे जानेवालों के लिए भी गीता की शिक्षा अनिवार्य नहीं बनाई जा सकती है। कई सिख और जैन अपने आपको हिंदू मानते हैं? मगर संभव है, वे अपने बालक-बालिकाओं को अनिवार्य रूप से गीता के पढ़ाये जाने का विरोध करें। साम्प्रदायिक या जातीय शालाओं की बात ही दूसरी होगी। मसलन्, एक वैष्णवशाला के लिए गीता को धार्मिक शिक्षा का अंग बनाना मेरी राय में बिलकुल उचित होगा। प्रत्येक स्वतंत्र शाला को हक़ है कि वह अपनी पढ़ाई का पाठ्यक्रम स्वयं निश्चित करे। मगर एक राष्ट्रीय शाला को तो स्पष्ट मर्यादाओं में रहकर काम करना पड़ता है। जहां अधिकार या हक में दस्तंदाजी नहीं होती, वहां अनिवार्यता का भी प्रश्न नहीं उठता। एक खानगी पाठशाला में प्रवेश करने का कोई दावा नहीं कर सकता, मगर यह मानी हुई बात है कि राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रीय शाला में जाने का अधिकार है। अतएव एक जगह जो बात प्रवेश की शर्त मानी जायगी, वही दूसरी जगह अनिवार्य न होगी। बाहरी दबाव से गीता कभी विश्व-व्यापिनी नहीं होगी। वह विश्व-व्यापिनी तो तभी होगी, जब उसके प्रशंसक उसे जबर्दस्ती दूसरों के गले न उतारकर स्वयं अपने जीवन द्वारा उसकी शिक्षाओं को मूर्तरूप देंगे।

१८ मार्च, १९२९

: १३ :

अहिंसा परमोधर्मः

कैनन शेप्पर्ड और दूसरे सच्चे और उत्साही ईसाई इंग्लैंड में युद्धों के खिलाफ़ आंदोलन कर रहे हैं। दिल्ली के 'स्टेट्समैन' ने चार लेख लिखकर इस आंदोलन की बेहद निंदा की है। इस पत्र ने अपने पक्ष-समर्थन में भगवद्गीता को भी घसीटा है :

"असल में, क्रिश्चियानिटी की वास्तविक किन्तु कठिन शिक्षा यही मालूम पड़ती है कि समाज को अपने शत्रुओं से लड़ना चाहिए, पर साथ ही, उनसे प्रेम भी करना चाहिए।

"मिस्टर गांधी भी इस बात पर खासतौर से ध्यान दें कि गीता की भी साफ-साफ यही शिक्षा है। कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि विजय उसे ही मिलती है, जो पूर्णतया निर्भय और निर्वैर होकर लड़ता है। सचमुच, इस महाकाव्य के द्वितीय अध्याय ने एक विवेकशील युद्धविरोधी तथा एक सच्चे योद्धा के बीच, सर्वोच्च भूमिका पर सोचने पर भी, सारा विवाद खत्म कर दिया है। स्थानाभाव के कारण, हम उनमें से अधिक उद्धरण तो नहीं दे सकते; पर वह सारा काव्य (गीता) एक बार नहीं, बारंवार पढ़ने की चीज़ है।"...

इन लेखों का लेखक शायद यह नहीं जानता कि आतंकवादियों ने भी इन्हीं श्लोकों का हवाला दिया है। सच्ची बात तो यह है कि निर्विकार चित्त से पढ़ने पर मुझे तो भगवद्गीता में इस लेखक ने जो अर्थ लगाया है, उससे ठीक विपरीत अर्थ मिला है। वह भूल जाता है कि पश्चिम के युद्ध-विरोधी

जिस अर्थ में विवेकशील कहे जाते हैं, वैसा अर्जुन नहीं था। अर्जुन तो युद्ध का हिमायती था। कौरवों की सेना से पहले वह कई बार लोहा ले चुका था। उसके हाथ-पैर तो तब ढीले पड़ गये, जब उसने दोनों सेनाओं को युद्ध के लिए तैयार देखा और उनमें अपने प्यारे-से-प्यारे स्वजनों तथा पूज्य गुरुजनों को पाया। न तो वहां मानवता के प्रति प्रेम था और न युद्ध के प्रति घृणा ही थी, जिससे प्रेरित होकर अर्जुन ने कृष्ण से वे प्रश्न पूछे थे और कृष्ण भी ऐसी परिस्थिति में दूसरा कोई उत्तर दे ही नहीं सकते थे। महाभारत तो रत्नों की एक खान है, जिनमें से गीता केवल एक किन्तु सबसे अधिक देदीप्यमान रत्न है। लिखा है कि उस युद्ध में लाखों योद्धा एकत्र हुए थे और दोनों तरफ से अवर्णनीय अमानुषिकताएं बरती गई थीं। इन लाखों की सेना में से केवल सात को जीवित रखकर तथा उन्हें वह निःसार विजय प्रदान करके इस महाकाव्य के अमर कवि ने तो युद्ध की निरर्थकता ही सिद्ध की है; किंतु युद्ध को केवल एक मूर्खतापूर्ण धोखे की चीज़ सिद्ध करने के अलावा भी, महाभारत एक उससे भी ऊंचा संदेश हमें देता है। मनुष्य को अगर एक अमर प्राणी समझा जाय तो महाभारत उसका एक आध्यात्मिक इतिहास है और इसके वर्णन में एक ऐतिहासिक घटना का उसने उपयोगमात्र किया है, जो तत्कालीन छोटे-से जगत् के लिए तो बड़ी महत्त्वपूर्ण थी, पर आजकल की दुनिया के लिए कोई भी महत्त्व नहीं रखती। अनेक आधुनिक आविष्कारों के कारण आज तो यह सारा संसार हथेली पर रखे हुए आंवले के समान मालूम होने लगा है। उसके किसी एक कोने में घटी हुई घटना का असर दूर-दूर तक सारे संसार

में फैल जाता है। यह बात उस समय नहीं थी। हमारे हृदयों में जो दिन-रात सत् और असत् के बीच सनातन संघर्ष चल रहा है, महाभारतकार उसे इस कथानक द्वारा एक अमर काव्य के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि यद्यपि अंत में तो सत्य ही की विजय होती है, तो भी असत् किस तरह सशक्त होकर अत्यन्त विवेकशील पुरुष को भी 'किंकर्तव्य-विमूढ़' बना देता है। महाभारत सदाचार का एक-मात्र मार्ग भी हमें बताता है।

लेकिन भगवद्गीता का वास्तविक संदेश जो कुछ भी हो, शांति-स्थापन आंदोलन के नेताओं के लिए तो गीता की शिक्षा नहीं, बाईबिल की शिक्षा महत्त्व रखती है, क्योंकि उसी को उन्होंने अपना आध्यात्मिक मार्ग-दर्शक बना रखा है। फिर बाइबिल का भी तो कई तरह से अर्थ लगाया जाता है। उन्हें बाइबिल का वह अर्थ स्वीकार नहीं है, जो साधारणतया ईसाई धर्माधिकारी लगाते हैं। उन्हें तो वह अर्थ मंजूर है, जो इसके श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से पढ़ने पर मालूम होता है। असल में, सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ तो है युद्ध विरोधियों का अहिंसा अर्थात् प्रेम-धर्मविषयक ज्ञान। अहिंसा का अर्थ बहुत व्यापक है। अंग्रेजी का 'नान-वायलेन्स' शब्द उसके लिए बिलकुल अपर्याप्त है।'स्टेट्समैन' के ये लेख युद्ध-विरोधियों के लिए एक खासी चुनौती ही हैं। मुझे दुःख है, इस आंदोलन के विषय में मुझे पूरी जानकारी नहीं है। युद्ध-विरोधियों के नज़दीक भले ही मेरे विचारों का विशेष महत्त्व न हो, पर जहां तक मुझे भीतरी बातों का पता है, कुछ लोग तो ज़रूर उसका खयाल करेंगे, क्योंकि वे भी अक्सर मुझसे पत्र-व्यवहार करते हैं और अब तो

वे एक क़दम और आगे बढ़ गये हैं; क्योंकि उन्होंने रिचर्ड ग्रेग की 'अहिंसा की शक्ति' नामक पुस्तक को लगभग अपनी पाठ्य-पुस्तक बना लिया है। लेखक (श्री ग्रेग) के शब्दों में यह पुस्तक' अहिंसा के दावे का, जैसा कि मैं उसे समझा हूं, पाश्चात्य संसार की भाषा में प्रतिपादन है। इसलिए बग़ैर किसी प्रकार की दलील वग़ैरा दिये, अगर मैं यहां अहिंसा की सफलता की कुछ शर्तें तथा अप्रकट अर्थ लिख दूं तो शायद धृष्टता न होगी।

१. अहिंसा परमश्रेष्ठ मानव-धर्म है, पशुबल से वह अनंत गुना महान् और उच्च है।

२. अंततोगत्वा वह उन लोगों को कोई लाभ नहीं पहुंचा सकती, जिनकी उस प्रेमरूपी परमेश्वर में सजीव श्रद्धा नहीं है।

३. मनुष्य के स्वाभिमान और सम्मान-भावना की वह सबसे बड़ी रक्षक है। हां, वह मनुष्य की चल-अचल सम्पत्ति की हमेशा रक्षा करने का आश्वासन नहीं देती, हालांकि अगर मनुष्य उसका अभ्यास कर ले तो शस्त्रधारियों की सेनाओं की अपेक्षा वह इसकी अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकती है। यह तो स्पष्ट है कि अन्याय से अर्जित सम्पत्ति तथा दुराचार की रक्षा में वह जरा भी सहायक नहीं हो सकती।

४. जो व्यक्ति और राष्ट्र अहिंसा का अवलंबन करना चाहें, उन्हें आत्म-सम्मान को छोड़कर, अपना सर्वस्व (राष्ट्रों को तो एक-एक आदमी) गंवाने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसलिए वह दूसरे के मुल्कों को हड़पने अर्थात्, आधुनिक साम्राज्यवाद से, जो कि अपनी रक्षा के लिए पशुबल पर निर्भर रहता है, बिलकुल मेल नहीं खा सकता।

५. अहिंसा एक ऐसी शक्ति है, जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं, बशर्ते कि उनकी उस करुणामय में तथा मनुष्य-मात्र में सजीव श्रद्धा हो। जब हम अहिंसा को अपना जीवन-सिद्धांत बना लें तो वह हमारे संपूर्ण जीवन में व्याप्त होना चाहिए, यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़ने से लाभ नहीं हो सकता।

६. यह समझना एक जबर्दस्त भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही लाभदायक है, जन-समूह के लिए नहीं। जितना वह व्यक्ति के लिए धर्म है, उतना ही वह राष्ट्रों के लिए भी धर्म है।

५ सितंबर, १९३६

: १४ :

गीताजी

मेरे लिए तो गीता जीवित मां है, कामधेनु है। गीता का नित्य वाचन नीरस लगता है; क्योंकि उसका मनन नहीं होता। हमें रोज रास्ता दिखानेवाली माता है, ऐसा समझकर पढ़ें तो नीरस नहीं लगेगी। हर रोज के पाठ के बाद एक मिनट के लिए उसपर विचार कर लें। रोज ही कुछ-न-कुछ नया मिलेगा। हां, संपूर्ण मनुष्य को उसमें से कुछ नहीं मिलेगा। पर जिससे नित्य कोई दोष हो जाते हों, उसे उबारनेवाली यह गीतामाता है, यह समझकर नित्य-पाठ से थके नहीं।

तुम्हें गीता के सतत अभ्यास से सब चिंताओं से मुक्त रहना सीखना है। हम सबकी फिक्र रखनेवाला ईश्वर बैठा

है। तब यह बोझा व्यर्थ ही हम क्यों ढोते फिरें ? हमें तो अपने हिस्से आया हुआ काम करते रहना है।

... ...

ज्यों-ज्यों श्रद्धा बढ़ेगी त्यों-त्यों बुद्धि बढ़ेगी। गीता तो यह सिखाती मालूम देती है कि बुद्धियोग ईश्वर कराता है। श्रद्धा बढ़ाना हमारा कर्त्तव्य है। यहां श्रद्धा और बुद्धि का अर्थ समझना रहता है। यह समझ भी व्याख्या करने से नहीं आती; बल्कि सच्ची नम्रता का विकास करने से आती है। जो यह मानता है कि वह सबकुछ जानता है, वह कुछ नहीं जानता। जो मानता है कि वह कुछ नहीं जानता, उसे यथासमय ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भरे हुए घड़े में गंगाजल ईश्वर भी नहीं भर सकता। इसलिए हमें तो ईश्वर के सामने रोज खाली हाथ ही खड़े होना है। हमारा अपरिग्रहव्रत भी यही बताता है।

गीताजी जो धर्म सिखाती है, उसे समझो और उसके अनुसार अपना आचरण रखो।

... ...

गीता का मध्यबिन्दु क्या है, उसका निश्चय कर लेना। फिर प्रत्येक श्लोक का अर्थ, जो अपने जीवन में उपयोगी है, उसको आचार में रखना। यह सबसे बड़ी टीका है और यही गीता का सच्चा अभ्यास है। गीता का मध्यबिन्दु अनासक्ति ही है, इसमें थोड़ा भी शक नहीं होना चाहिए। दूसरे किसी कारण से गीता नहीं लिखी गई, उसमें कुछ मुझे भी शंका नहीं है और मैं तो यह अनुभव से जानता हूं कि बगैर अनासक्ति के न मनुष्य सत्य का पालन कर सकता है, न अहिंसा का। अनासक्त होना कठिन है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन उसमें आश्चर्य क्या

है ? सत्यनारायण का दर्शन करने में परिश्रम तो होना ही चाहिए और बगैर अनासक्ति के यह दर्शन अशक्य है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ १६१
३१ अक्तूबर, १६३२

... ...

गीता के मुख्य सिद्धान्त से असंगत कोई बात चाहे जहां भी लिखी हुई हो, मेरा मन उसे शास्त्र नहीं मानता। मेरे रूढ़िग्रस्त मित्रों को आघात न लगे तो मैं अपना अर्थ और अधिक स्पष्ट करना चाहता हूं। सदाचार के विश्वमान्य मूलतत्त्वों से असंगत किसी भी चीज को मैं शास्त्रप्रामाण्य में नहीं मानता। शास्त्रों का उद्देश्य इन मूलतत्त्वों को उखाड़ फेंकना नहीं, वरन् इन्हें टिकाये रखना है, और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूलतत्त्वों का समर्थन करती है। इतना ही नहीं, बल्कि वह किसी भी मूल्य पर इनसे चिपके रहने के लिए अचूक कारण बताती है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ ४६०
१७ नवंबर, १६३२

... ...

इसलिए भगवद्गीता में एक ही जगह, जहां 'शास्त्र' शब्द आता है, वहां मैंने उसका अर्थ यह नहीं किया कि गीता के सिवा कोई अन्य ग्रंथ या विधिवाक्य, बल्कि इसका अर्थ किसी जीवित प्रमाणभूत व्यक्ति में मूर्तिमान होनेवाला

सदाचार है।

'महादेवभाईनी डायरी',
भाग २, पृष्ठ ४६१
१७ नवंबर, १९३२

... ...

गीताजी के तीसरे अध्याय का पांचवां श्लोक बहुत ही चमत्कारिक है। भौतिकशास्त्री बता चुके हैं कि इसमें बताया हुआ सिद्धान्त सर्वव्यापक है। इसका अर्थ यह है कि कोई आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म का अर्थ है गति और यह नियम जड़-चेतन सबके लिए लागू है। मनुष्य इस नियम पर निष्काम भाव से चलता है तो यही उसका ज्ञान और यही उसकी विशेषता है। इसीकी पूर्ति में ईशोपनिषद् के दो मंत्र हैं। वे भी इतने ही चमत्कारी हैं।

'महादेवभाईनी डायरी',
पहला भाग, पृष्ठ ३७४
२३ अगस्त, १९३२

... ...

आश्रम की एक बहन ने लिखा है, "गीता की बजाय अन्य पुस्तकें पढ़ना मुझे ज्यादा अच्छा लगता है।"

तूने तो ऐसी बात लिखी कि मुझे पकौड़ियां खाना अच्छा लगता है और रोटी अच्छी नहीं लगती। किन्तु जिसका शरीर ऐसा हो जाय, वह रोगी माना जायगा। निरोगी का पेट पकौड़ियों से कभी भर नहीं सकता। वह तो रोटी ही मांगेगा। इसी तरह गीता को समझ। अन्तर्पट खुलने पर तो गीता अच्छी लगेगी ही। जबतक गीता अच्छी नहीं लगती तबतक यह समझना

चाहिए कि कुछ कच्चापन है; लेकिन इसमें मुझ रसोइये का भी दोष तो है ही। मैंने जो गीता भेजी, वह कच्ची थी, इसलिए तुझे पची नहीं ? अब क्या हो ?

... ...

गीता कंठ करने में स्मरण-शक्ति का काम है, जो सरल है। गीता का अर्थ समझने में बुद्धि का काम है। यह कठिन है। इससे तुम्हें रस नहीं मिलता, किन्तु जब बुद्धि के काम में रस मिलने लगेगा तब अर्थ समझने की इच्छा जागेगी। इसलिए बुद्धि के विषयों में रस लेने लगो।

... ...

मुझे तो ऐसा ही लगता है कि मनुष्य कर्म करता हुआ ही सच्ची और शाश्वत चित्तशुद्धि को साध सकेगा।

... ...

कर्म किये बिना किसी को सिद्धि नहीं मिली।

जो कर्म आसक्ति बिना नहीं हो सकते हों, वे सब त्याज्य हैं।

... ...

जिस प्रकार आलस्य त्याज्य है, उसी प्रकार अति परिश्रम त्याज्य है। 'समत्वं योग उच्यते' मन में रमता ही रहता है।

... ...

"तू जो कुछ भी करे, वह मुझे अर्पित करके मेरे निमित्त करना।"

"भक्ति करोगे तो ज्ञान तो प्राप्त होकर ही रहेगा।"

"निष्काम होकर कर्म करो।"

... ...

गीता-माता ने इसका उत्तर तो दिया ही है कि हमें पाप करने के लिए कौन प्रेरित करता है। काम और क्रोध हमसे पाप करवाते हैं। अपने पिछले स्मरणों से तुम सब इस बात को अनुभव कर सकोगे।

... ...

चि० धीरु[1],

तेरा पत्र मिला। नया वर्ष तुझे फले और तू और अच्छा सेवक बने। गीता तूने कंठ कर ली, अब उसे हृदय में उतार। ऐसा करने के लिए तुझे उसके अर्थ समझने चाहिए। 'अनासक्ति-योग' की प्रस्तावना दस-बीस पढ़ जा और फिर अर्थ समझने की कोशिश कर। उसे समझने के लिए संस्कृत का अभ्यास बढ़ा। जैसे भी बने, वैसे इसे पूरा कर। नये वर्ष का यही तेरा व्रत हो!

२३ अप्रैल, १९३१ बापू के अशीर्वाद

... ...

हम सब लोग जब कभी बीमार पड़ते हैं, साधारणतया उसके पीछे न केवल आहार-सम्बन्धी त्रुटि ही होती है, अपितु हमारे मस्तिष्क का ठीक-ठीक काम न करना भी होता है। गीताकार ने स्पष्टतः इस चीज को देखा और साफ़-साफ़ भाषा में संस्कार को इसकी रामबाण औषधि बताया। इसलिए जब कभी कोई चीज़ तुम्हारे मस्तिष्क को हैरान करती हो तो तुम्हें गीता की मुख्य शिक्षा पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और अपने बोझ को उतार फेंकना चाहिए।

'बापूज लैटर्स टू मीरा'
४ दिसंबर, १९३०

---

१. श्री धीरेन गांधी के नाम पत्र।

"बिना उपवास के प्रार्थना संभव नहीं"—यह कथन पूर्णतया सत्य है। यहां उपवास को व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। शरीर के उपवास के साथ-साथ सभी इंद्रियों का उपवास होना आवश्यक है, और गीता में वर्णित 'अल्पाहार' भी शरीर का उपवास है। गीता भोजन-निग्रह का आदेश नहीं देती, बल्कि अल्पाहार के लिए कहती है। अल्पाहार सदा चलने वाला उपवास है। अल्पता का अर्थ है कि केवल उतना ही भोजन किया जाय, जितना शरीर को उस सेवा के लिए कायम रखने को पर्याप्त हो, जिसके करने के लिए उसका निर्माण हुआ है। इसकी कसौटी पुनः इस कथन में मिलती है कि जिस प्रकार स्वाद के लिए नहीं, बल्कि शरीर की निरोगता के लिए नपी-तुली मात्रा में और निश्चित समय पर औषधि का सेवन किया जाता है, उसी प्रकार आहार भी किया जाय। 'नपी-तुली मात्रा' में 'अल्पता' का भाव शायद अधिक अच्छी तरह से आ जाता है। आरनॉल्ड का रूपान्तर मुझे स्मरण नहीं है। पूरा भोजन लेना ईश्वर और मानव के प्रति पाप है। मानव के प्रति इसलिए कि पूरा भोजन करके हम अपने पड़ोसियों को उनके भाग से वंचित करते हैं। भगवान की अर्थ-व्यवस्था में केवल औषधिक मात्रा में प्रतिदिन सबको भोजन लेने की गुंजाइश है। हम सब-के-सब पूरा भोजन लेनेवाली जाति के लोग हैं। अन्तःप्रवृत्ति से यह जान लेना कि औषधिक मात्रा क्या है, भगीरथ काम है; क्योंकि मां-बाप का शिक्षण हमें ऐसा मिलता है कि हम पेटू बन जाते हैं। तब जब हम अभ्यस्त हो जाते हैं, हमें पता चलता है कि भोजन का उपयोग स्वाद के लिए नहीं, बल्कि अपने दास के रूप में अपने शरीर को कायम रखने के लिए होना चाहिए। उस

घड़ी से आनंद के लिए भोजन कर के पैतृक और स्व-अर्जित स्वभाव के विरुद्ध घमसान शुरू हो जाता है। इसलिए कभी-कभी पूर्ण उपवास और सदैव आंशिक उपवास करने की आवश्यकता होती है। आंशिक उपवास का अर्थ अल्पाहार अथवा गीता के अनुसार नपा-तुला भोजन लेना है। इस प्रकार 'उपवास के बिना प्रार्थना संभव नहीं' यह कथन वैज्ञानिक है और इसकी सचाई की परीक्षा प्रयोग और अनुभव के द्वारा की जा सकती है।

'बापूज लैटर्स टू मीरा'
२६ जनवरी, १९३३

... ...

मैं गीतामाता के संदेश को हृदय में धारण करूंगा। यह विलक्षण माता है। मेरा खयाल है, तुम जानती हो कि वह माता कहलाती है। गीता का अर्थ है गेय। वह शब्द विशेषण के रूप में 'उपनिषद्' के साथ प्रयुक्त होता है, जो स्त्रीलिंग है। गीता कामधेनु की भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करती है। इसीलिए वह माता कहलाती है। अपने आध्यात्मिक जीवन को कायम रखने के लिए हमें जितने दूध की आवश्यकता है, उसके लिए अगर हम याचक दुधमुंहे बच्चे की तरह मांग करें तो वह अमर माता हमें सम्पूर्ण दूध दे देती है। उसमें अपने लाखों बच्चों को अपने अजस्र थनों से दूध देने की क्षमता है।

'बापूज लैटर्स टू मीरा'
२४ फरवरी, १९३३

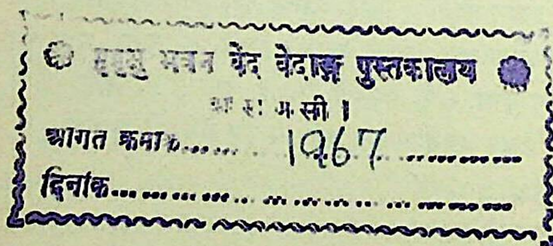
... ...

गीताधर्म का अनुयायी प्रसन्नतापूर्वक बिना चीजों के काम चलाना सीखता है। गीता की भाषा में इसे स्थितप्रज्ञ कहते

हैं, कारण कि गीता में वर्णित सुख और दुःख समान हैं। स्थित-प्रज्ञ की अवस्था सुख-दुःख से ऊंची है। गीता का भक्त न सुखी होता है, न दुखी, और जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पीड़ा, आनंद, विजय, पराजय, च्युति, प्राप्ति किसी की भी अनुभूति नहीं होती।

'बापूज लेटर्स टू मीरा'
४ मार्च १९३३





मंडल द्वारा प्रकाशित
गांधीजी की प्राप्य पुस्तकें

□□

१. आत्मकथा (संपूर्ण)
२. आत्मकथा (संक्षिप्त)
३. गीता-माता
४. अनासक्ति-योग
५. गीता-बोध
६. गीता-पदार्थकोश
७. देश-सेवकों के संस्मरण
८. ग्राम-सेवा
९. नीति-धर्म
१०. मंगल प्रभात
११. सर्वोदय
१२. आश्रमवासियों से
१३. हृदय-मंथन के पांच दिन
१४. गांधी-शिक्षा (तीन भाग)
१५. धर्म-नीति
१६. प्रार्थना-प्रवचन (भाग २)
१७. गीता की महिमा

